



वीतराग-विज्ञान (जुलाई-मासिक) * 26 जून 2011 • वर्ष 29 • अंक 12

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे)

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मा का स्वभाव चारों प्रकार के बन्धन से रहित ज्ञानस्वरूप है, उसे पहिचानकर उसमें एकाग्रतारूप भावना करने पर राग का त्याग हो जाता है - यह प्रत्याख्यान है। आत्मा चार प्रकार के पुद्गलकर्म के बन्ध से तो रहित है ही, साथ ही कर्म के कारणरूप विकारी भावों से भी रहित है। बन्ध और बन्ध के भावों से रहित शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना ही सच्चा प्रत्याख्यान है; इसलिए यहाँ ‘बन्ध रहित आत्मा की भावना करो’ - ऐसी शिक्षा दी है।^१

बन्धन में चार प्रकार हैं। उनमें से प्रकृति और प्रदेश का कारण तो योग का कम्पन है तथा स्थिति और अनुभाग का कारण चारों कषाय हैं। सोलहकारण भावना का जो शुभराग है, उससे भी आत्मा की शान्ति प्रगट नहीं होती, अपितु कर्म का बन्ध होता है; इसलिए शुभाशुभ भाव अथवा मन-वचन-काय की क्रिया आत्मा के संवर या प्रत्याख्यान का कारण नहीं हैं, प्रत्याख्यान का कारण तो कर्मसम्बन्ध रहित चैतन्य की भावना करना ही है।^२

अकेले योग में शुभ-अशुभपना नहीं होता, उसमें शुभ-अशुभपना तो कषाय मिलने पर कहा जाता है और उससे कर्मबन्ध होता है। जिस भाव से कर्म बँधता है, उस भाव से प्रत्याख्यान नहीं हो सकता।

आत्मा के भान बिना सच्चा सामायिक अथवा सच्चा प्रत्याख्यान होता ही नहीं। एक समय की सामायिक अथवा संवर अल्पकाल में मुक्ति प्रदान करता है, परन्तु ऐसी सामायिक अज्ञानी के नहीं होती।^३”

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि बंध चार प्रकार का होता है। उनमें प्रकृति और प्रदेश बंध तो योग से और स्थिति तथा अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। यहाँ कषाय शब्द में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद भी शामिल समझने चाहिए; क्योंकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में बंध के कारण पाँच बताये हैं; जो इसप्रकार हैं - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें से योग प्रकृति-प्रदेश बंध का कारण है, शेष चार स्थिति-अनुभाग बंध के कारण हैं। अतः यहाँ

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७८६

२. वही, पृष्ठ ७८६-७८७

३. वही, पृष्ठ ७८७

कषाय शब्द से कषायान्त का भाव लेना चाहिए। कषाय हैं अन्त में जिसके उसे कषायान्त कहते हैं। इस न्याय से कषाय में मिथ्यात्वादि भी शामिल हैं।

इस गाथा में यह भावना भाई गई है कि मैं चारों प्रकार के बंधों से रहित हूँ। -
ऐसी भावना वाले के ही सच्चा प्रत्याख्यान होता है ॥१८॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

प्रेक्षावद्धिः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्रचःसारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ॥१३३॥

(हरिगीत)

जो मूल शिव साम्राज्य परमानन्दमय चिद्रूप है।
बस ग्रहण करना योग्य है इस एक अनुपम भाव को ॥
इसलिए हे मित्र सुन मेरे वचन के सार को।
इसमें रमो अति उद्य हो आनन्द अपरम्पार हो ॥१३३॥

बुद्धिमान व्यक्तियों के द्वारा; मुक्तिरूपी साम्राज्य का मूल कारण, निरुपम, सहज परमानन्दवाले एक चैतन्यरूप भगवान आत्मा को; भली प्रकार ग्रहण किया जाना चाहिए। इसलिए हे मित्र ! मेरे वचनों के सार को सुनकर तू भी अति शीघ्र उग्ररूप से इस चैतन्य चमत्कार में अपनी बुद्धि को लगा।

उक्त छन्द का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

“देखो ! टीकाकार मुनिराज प्रेम से कहते हैं कि हे सखा! हे बन्धु! तू मेरे उपदेश का सार सुनकर चैतन्यस्वरूप की ओर अपना लक्ष कर।

चैतन्यस्वरूप को लक्ष में लेना ही उपदेश का सार है। चतुर पुरुषों को तो एक सहज परमानन्दमय चिद्रूप आत्मा को ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना चाहिए। आत्मा का स्वरूप ही मुक्तिसाम्राज्य का मूल है - निरुपम और सहज परमानन्दवाला चिदानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा ही मोक्षसाम्राज्य का मूल है; उसकी भावना से ही मोक्ष होता है। जो जीव ऐसे चिद्रूप आत्मा को एक को ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तव में चतुर पुरुष हैं।”

यहाँ ‘हे सखा!’ - ऐसा कहकर सम्बोधन किया है अर्थात् हमें तो चैतन्य के ग्रहण से प्रत्याख्यान वर्तता है और हमारा उपदेश सुनकर तुम भी अपना लक्ष चैतन्य में करो; ऐसा करने पर हम और तुम समान हो जायेंगे।”

उक्त छन्द के माध्यम से टीकाकार मुनिराज अपने शिष्यों को, अपने पाठकों को अथवा हम सभी को प्रेरणा दे रहे हैं कि मुक्ति को प्राप्त करने का उपाय एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का अनुभव करना है, ध्यान करना है। इसलिए मेरे कहने का सार यह है कि तुम भी मेरे समान अपनी बुद्धि को इस चैतन्यचमत्काररूप भगवान आत्मा में लगाओ। इससे तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ॥१३३॥

नियमसार गाथा ९९

अब इस गाथा में सभी विभावभावों से संन्यास की विधि समझाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्टिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥९९॥

(हरिगीत)

छोड़कर ममभाव निर्ममभाव में मैं थिर रहूँ।
बस स्वयं का अवलम्ब ले अवशेष सब मैं परिहरेँ ॥९९॥

मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित रहता हूँ। मेरा अवलम्बन तो एकमात्र आत्मा है, इसलिए शेष सभी को विसर्जित करता हूँ, छोड़ता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ सकल विभाव के संन्यास की विधि कही है।

मैं सुन्दर कामिनी और कंचन (सोना) आदि सभी परद्रव्य, उनके गुण और पर्यायों के प्रति ममत्व को छोड़ता हूँ। परमोपेक्षा लक्षण से लक्षित निर्ममत्व आत्मा में स्थित होकर तथा आत्मा का अवलम्बन लेकर संसाररूपी स्त्री के संयोग से उत्पन्न सुख-दुःखादि अनेक विभाव रूप परिणति को छोड़ता हूँ।”

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जगत में स्त्री और कंचन को मुख्य परिग्रह माना जाता है, अतः यहाँ उसी की मुख्यता से बात की है। वास्तव में तो सम्मेदशिखर आदि तीर्थ अथवा देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य हैं, अतः मैं उनकी भी ममता छोड़ता हूँ; क्योंकि परद्रव्य के प्रति ममता रहने पर राग का प्रत्याख्यान नहीं होता।”

पर से अत्यन्त उपेक्षित होने को कहा और साथ ही आत्मा का अवलम्बन लेने को कहा - इसप्रकार अस्ति-नास्ति से बात की है।”

चैतन्य का अवलम्बन लेकर स्थिर होने पर विभावपरिणति उत्पन्न ही नहीं होती, तब ‘मैं उसको छोड़ता हूँ’ - ऐसा कहा जाता है। आत्मा का अवलम्बन लेने पर

वीतरागी परिणति होती है और रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती - इसी का नाम प्रत्याख्यान है।^१”

उक्त गाथा और उसकी टीका में सम्पूर्ण विभावभावों से संन्यास लेने की विधि बताई गई है। सारा जगत कंचन-कामिनी आदि परद्रव्यों में ही उलझा हुआ है। यहाँ ज्ञानी संकल्प करता है कि मैं इन कंचन-कामिनी आदि सभी परद्रव्यों से, उनके गुणों और पर्यायों से ममता तोड़ता हूँ और निर्ममत्व होकर अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापित करके उसी में समा जाने को तैयार हूँ।^{१९९}।

इसके बाद तथा चोक्तं श्रीमद्मृतचन्द्रसूरिभिः ह्य तथा अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है - कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल

प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।

तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं

स्वयं विदंत्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥५० ॥^२

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से।

अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥

अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते।

निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥५०॥

सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) - सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान निवृत्तिमय जीवन जीनेवाले मुनिजन कहीं अशरण नहीं हो जाते; क्योंकि निष्कर्म अवस्था में ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों की परम शरण है। वे मुनिराज स्वयं ही उस ज्ञानस्वभाव में लीन रहते हुए परमामृत का पान करते हैं, अतीन्द्रियानन्द का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं।

शुभभाव को ही धर्म माननेवालों को यह चिन्ता सताती है कि यदि शुभभाव का भी निषेध करेंगे तो मुनिराज अशरण हो जावेंगे, उन्हें करने के लिए कोई काम नहीं रहेगा। आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धानमय वीतरागभाव की खबर न होने से ही अज्ञानियों को ऐसे विकल्प उठते हैं; किन्तु शुभभाव होना कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं है; क्योंकि शुभभाव तो इस जीव को अनेक बार हुए हैं, पर उनसे भव का अन्त नहीं आया।

यदि शुभभाव नहीं हुए होते तो यह मनुष्य भव ही नहीं मिलता। यह मनुष्य भव

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९२

२. समयसार, कलश १०४

और ये अनुकूल संयोग ही यह बात बताते हैं कि हमने पूर्व में अनेक प्रकार के शुभभाव किये हैं; पर दुःखों का अन्त नहीं आया है।

अतः एक बार गंभीरता से विचार करके यह निर्णय करें कि शुभभाव में धर्म नहीं है, शुभभाव कर्तव्य नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप ही है और एकमात्र कर्तव्य भी वही है।

वे वीतरागभाव आत्मा के आश्रय से होते हैं; अतः अपना आत्मा ही परमशरण है। जिन मुनिराजों को निज भगवान आत्मा का परमशरण प्राप्त है, उन्हें अशरण समझना हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है ॥५०॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो

भवजलधिसमुत्थं मोहयादःसमूहम् ।

कनकयुवतिवांच्छामप्यहं सर्वशक्त्या

प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि ॥१३४॥

(हरिगीत)

मन-वचन-तन व इंद्रियों की वासना का दमक मैं।

भव उदधि संभव मोह जलचर और कंचन कामिनी ॥

की चाह को मैं ध्यानबल से चाहता हूँ छोड़ना।

निज आत्मा में आत्मा को चाहता हूँ जोड़ना ॥१३४॥

मन-वचन-काय संबंधी व समस्त इंद्रियों संबंधी इच्छा को नियंत्रण करनेवाला मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले मोहरूपी जलचर प्राणियों के समूह को तथा कनक और कामिनी की इच्छा को अति प्रबल विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से छोड़ता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ तो जिसे आत्मा का भान हुआ है, वह जीव प्रत्याख्यान करते हुए कहता है कि मैंने मन-वचन-काय और इंद्रियों सम्बन्धी समस्त इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् उनकी ओर का लक्ष्य छोड़ दिया है। ऐसा मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष-मोहरूपी जलचर प्राणियों को आत्मध्यान के बल से छोड़ता हूँ तथा अतिविशुद्ध आत्मध्यान के बल से कनक और कामिनियों की वांछा को भी छोड़ता हूँ। चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने पर समस्त परद्रव्य की वांछा छूट जाती है, उसी का नाम प्रत्याख्यान है।”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९४

इस कलश में प्रतिक्रमण करनेवाले वीतरागी सन्तों की भावना को प्रस्तुत किया गया है। प्रतिक्रमण करनेवाला बड़े ही आत्मविश्वास से कह रहा है कि मैंने मन-वचन-काय संबंधी व पाँच इन्द्रियों संबंधी इच्छा पर नियंत्रण कर लिया है और अब मैं संसार समुद्र में उत्पन्न मोहरूपी खूँखार जलचर प्राणियों के समूह को तथा कंचन-कामिनी की इच्छा को अत्यन्त प्रबल ध्यान के सम्पूर्ण बल से छोड़ता हूँ।

यहाँ खूँखार जलचर द्वेष के और कंचन-कामिनी की इच्छा राग की प्रतीक है। मिथ्यात्व का तो वे नाश कर ही चुके हैं; अब जो थोड़े-बहुत राग-द्वेष बचे हैं, उनका नाश करने की तैयारी है ॥१३४॥

नियमसार गाथा १००

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि सर्वत्र एकमात्र आत्मा ही उपादेय है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

(हरिगीत)

मम ज्ञान में है आत्मा दर्शन चरित में आत्मा ।

अर योग संवर और प्रत्याख्यान में भी आत्मा ॥१००॥

वस्तुतः मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन में आत्मा है तथा चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में आत्मा है और मेरे योग (शुद्धोपयोग) में आत्मा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इस गाथा में ‘सर्वत्र आत्मा उपादेय है’ - ऐसा कहा गया है।

वस्तुतः आत्मा अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाला, शुद्ध, सहज सौख्यात्मक है। सहजचेतनारूप से परिणमित मुझमें और मेरे सम्यग्ज्ञान में वह आत्मा है। पूजितपरमपंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत पंचमभाव (परमपारिणामिकभाव) की भावनारूप से परिणमित मुझमें और मेरे सहज सम्यग्दर्शन में वह आत्मा है।

साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत निजस्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज परमचारित्र परिणतिवाले मुझमें और मेरे सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदा सन्निहित है।

सदा सन्निहित शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख - इन छह भावों से संपूर्ण संन्यासात्मक, परद्रव्य से परांगमुख, पंचेन्द्रिय विस्तार से रहित, भेदविज्ञानी

और देहमात्र परिग्रहवाले मुझमें और मेरे निश्चय प्रत्याख्यान में वह आत्मा सदा निकट ही विद्यमान है।

सहज वैराग्य के महल के शिखर का शिरोमणि, स्वरूपगुप्त और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान जो मैं; उसमें और मेरे शुभाशुभ संवर में वह आत्मा है।

अशुभोपयोग से परांगमुख और शुभोपयोग के प्रति उदासीन और साक्षात् शुद्धोपयोग के सन्मुख जो मैं, जिसके मुख से परमागमरूपी मकरंद सदा झरता है - ऐसे पद्मप्रभ (पद्मप्रभमलधारिदेव) के शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है; क्योंकि वह परमात्मा सनातन स्वभाववाला है।^१

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -
“ज्ञानी कहता है कि वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है अर्थात् मेरा ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही होता है। सम्यग्दर्शन में भी आत्मा है अर्थात् सम्यग्दर्शन का ध्येय आत्मा ही है। चारित्र में भी आत्मा ही है, आत्मा के आश्रय बिना चारित्र नहीं होता। इसीप्रकार प्रत्याख्यान, संवर, शुद्धोपयोग आदि सभी में शुद्धात्मा का ही आश्रय है; इसलिए आत्मा ही सर्वत्र उपादेय है।^२

प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात करके फिर प्रत्याख्यान की बात की; क्योंकि उन तीनों के सहित ही प्रत्याख्यान होता है। यहाँ मुनि के प्रत्याख्यान की बात है।^३

देखो तो सही! मुनि स्वयं अपने को लक्ष करके कहते हैं कि मैं सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि हूँ, स्वरूपगुप्त हूँ और पापरूपी वन को जलाने के लिए प्रचण्ड अग्नि के समान हूँ। मेरे शुभाशुभ के संवर में भी परमात्मा ही है। अहो! एक परमशुद्ध आत्मा ही मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, प्रत्याख्यान व संवर में है। शुभ और अशुभ भाव के संवर में आत्मा है अर्थात् आत्मा के आश्रय में एकाग्र होने पर शुभाशुभभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती, उसका नाम संवर है।^३

अशुभ से तो मैं पराङ्मुख हूँ; शास्त्ररचना आदि का शुभविकल्प वर्तता है, उससे भी मैं उदासीन हूँ और साक्षात् शुद्धोपयोग के सन्मुख हूँ तथा परमागमरूपी अमृतरस जिसके मुखकमल में से झरता है - ऐसा हूँ मैं पद्मप्रभ, उसके शुद्धोपयोग में भी परमात्मा ही वर्तता है। हमारे मुख में से जो वाणी निकली, वही परमागमरूपी पुष्प का रस है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९६

२. वही, पृष्ठ ७९९

३. वही, पृष्ठ ८०१

देखो तो मुनि के आत्मा का जोर! केवलज्ञान नहीं है, मति-श्रुतज्ञान है; उसके जोर से कहते हैं कि हमारे मुख में से जो वाणी झरती है, वह परमागम है। जो बात टीका में है, वही बात केवली भगवान की वाणी में और कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय में रहती है। मुनि स्वयं आत्मा की साक्षी से कहते हैं कि हमारी वाणी ही परमागम है, वह त्रिकाल में भी फिरनेवाली नहीं है। ऐसा जो मैं पद्मप्रभ मुनि हूँ, उसके शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा रहता है। शुद्धोपयोगपर्याय आत्मा के साथ अभेद हो जाती है, अतः उसमें आत्मा ही है; क्योंकि वह परमात्मा सनातन-स्वभाववाला है। ध्रुव चैतन्यदल त्रिकाल पड़ा है; वही उपादेय है। उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र है तथा सच्चा प्रत्याख्यान है। उसके आश्रय से ही संवर और सच्चा योग है। ऐसे आत्मा के भान बिना ये सम्यग्दर्शनादि एक भी नहीं होते।^१

यह गाथा और उसकी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनमें कहा गया है कि सन्तों को तो सर्वत्र एक आत्मा ही उपादेय है। आचार्य कुंदकुंद और टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव उत्तम पुरुष में बात करके ऐसा कह रहे हैं कि मुझमें और मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में; तथा प्रत्याख्यान और शुद्धोपयोग में एकमात्र आत्मा ही है, उसी की मुख्यता है।

यद्यपि पद्मप्रभमलधारिदेव का यह कथन कि हमारे मुख से परमागम का मकरंद झरता है, कुछ गर्वोक्ति जैसा लगता है; तथापि यह उनका आत्मविश्वास ही है; जो उनके आध्यात्मिकरस को व्यक्त करता है ॥१००॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ - तथा एकत्वसप्तति में भी कहा है - ऐसा कहकर तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैं -

(अनुष्टुभ्)

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।

चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥५१॥^२

नमस्यं च तदेकैकं तदेकैकं च मंगलम् ।

उत्तमं च तदेकैकं तदेव शरणं सताम् ॥५२॥^३

आचारश्च तदेकैकं तदैवावश्यकक्रिया ।

स्वाध्यायस्तु तदेकैकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥५३॥^४

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०१-८०२

२. पद्मनंदिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, श्लोक ३९

३. वही, श्लोक ४०

४. वही, श्लोक ४९

(दोहा)

वही एक मेरे लिए परमज्ञान चारित्र।
पावन दर्शन तप वही निर्मल परम पवित्र ॥५१॥
सत्पुरुषों के लिए वह एकमात्र संयोग।
मंगल उत्तम शरण अर नमस्कार के योग्य ॥५२॥
योगी जो अप्रमत्त हैं उन्हें एक आचार।
स्वाध्याय भी है वही आवश्यक व्यवहार ॥५३॥

वही (चैतन्यज्योति) एक परमज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

सत्पुरुषों को वही एक नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है।

अप्रमत्त योगियों के लिए वही एक आचार, वही एक आवश्यक क्रिया है और वही एक स्वाध्याय है।

स्वामीजी इन छन्दों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यज्योति में अन्तर्दृष्टि करने से ही सम्यग्ज्ञान है; अतः वही एक परमज्ञान है। शास्त्र या पुण्य के आश्रय से सम्यग्ज्ञान नहीं है, सम्यग्ज्ञान का अवलम्बन तो अन्तर में विद्यमान ध्रुव चैतन्यतत्त्व ही है; इसलिए वह चैतन्यज्योति ही एक परमज्ञान है, वही एक पवित्रदर्शन है। अन्तर में चैतन्य की प्रतीति होना ही सम्यग्दर्शन है, इसके अलावा बाह्यपदार्थों के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं है। परमचैतन्यतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है और उसमें लीनता ही चारित्र है अर्थात् अभेदपने वही एक चारित्र है, रागादिभाव चारित्र नहीं हैं तथा वह चैतन्यज्योति ही एक निर्मल तप है। ज्ञानानन्द में लीनता होने पर इच्छा का अभाव हो जाता है, वही तप है। वह तप आत्मा के आधार से है।^१

पर को नमस्कार करना तो पुण्य है। पुण्य-पाप से हटकर आत्मा के चिदानन्दस्वरूप में रम जाना - ढल जाना - लीन हो जाना परमार्थ नमस्कार है अर्थात् नमस्कार करने योग्य तो सहज चिदानन्दस्वरूप ही है। जैनदर्शन में व्यवहार से नमस्कार करने योग्य तो श्री अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - ये पंचपरमेष्ठी ही हैं और परमार्थ से अपना आत्मा ही नमस्कार करने योग्य है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीन होना ही नमस्कार है।^२

चैतन्य ही एक मंगल है। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म को

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०२-८०३

२. वही, पृष्ठ ८०३-८०४

मंगलरूप कहना व्यवहार है। अपने लिए तो अपना चैतन्यमूर्ति आत्मा ही मांगलिक है, उसका आश्रय करने पर पाप गल जाता है और पवित्रता प्रगट होती है। आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मंगलदशा प्रगट होती है।^१

भगवान आत्मा ही एक उत्तम है। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म - इन चार को उत्तम कहना तो व्यवहार है, उसमें शुभराग है। वास्तव में परद्रव्य अपने लिए उत्तम नहीं, अपने लिए तो सबसे उत्तम अपना आत्मा ही है; क्योंकि आत्मा के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि प्रगट होते हैं, पर के आश्रय से नहीं। लोक में आत्मद्रव्य ही उत्तम है।^२

वह चैतन्य ही एक शरण है। 'अरिहन्ते शरणं' आदि कहना तो शुभभाव है, वास्तव में चैतन्य को पर की शरण नहीं है। लोग कहते हैं कि तुमको अरिहन्त का शरण होवे, सिद्ध का शरण होवे; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि हाजिरहजूर चैतन्यभगवान ही वास्तविक शरण है, उसे सँभाल! इसके अतिरिक्त बाहर कोई शरण नहीं है। चैतन्य की शरण में आने पर ही धर्म होगा। अरिहन्त के लक्ष्य से शुभभाव होगा, धर्म नहीं और वह शुभभाव आत्मा को शरणभूत नहीं है।^३

चैतन्य में जो स्थिर हुआ है - ऐसे अप्रमत्त योगी को आत्मा ही एक आचार है। मुनियों को पंचमहाव्रतादि तो व्यवहार से आचार है, वास्तव में चैतन्य में लीनता ही एक आचार है।^४

आत्मा में स्थिर होना ही निश्चय से आवश्यक क्रिया है, अवश्य करने योग्य है।^५

वही एक स्वाध्याय है। स्व अर्थात् चैतन्यस्वरूप निजात्मा, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके लीनता करना ही परमार्थ से स्वाध्याय है। शास्त्र का वाँचन आदि व्यवहार स्वाध्याय है, शुभराग है। परमार्थ से तो आत्मा ही स्वाध्याय है। कुल ग्यारह बोल हुये -

आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, तप है; आत्मा ही नमस्कार योग्य है, मंगल है, उत्तम है, शरण है, आत्मा ही आचार है, षडावश्यक क्रिया है और स्वाध्याय है। इनमें आवश्यक के छह बोल अलग गिनें तो कुल सोलह बोल होते हैं। ये सभी बोल निश्चय से एक आत्मा में ही समा जाते हैं।^६

उक्त तीनों छन्दों में यह तो कहा ही गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप - ये सब एक आत्मा ही हैं; साथ में यह भी कहा

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०४

२. वही, पृष्ठ ८०४-८०५

३. वही, पृष्ठ ८०५

४. वही, पृष्ठ ८०६

५. वही, पृष्ठ ८०६

६. वही, पृष्ठ ८०७

गया है कि नमस्कार करने योग्य भी एक आत्मा ही है; मंगल, उत्तम और शरण भी एक आत्मा ही है; षट् आवश्यक, आचार और स्वाध्याय भी एक आत्मा ही है। यह सम्पूर्ण कथन शुद्ध निश्चयनय का कथन है। इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए ॥५१-५३॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्द्वसंन्यासकाले ।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोऽप्यन्योस्ति मुक्त्यै पदार्थः ॥१३५॥

(हरिगीत)

इक आतमा ही बस रहा मम सहज दर्शन-ज्ञान में।
संवर में शुध उपयोग में चारित्र प्रत्याख्यान में॥
दुष्कर्म अर सत्कर्म - इन सब कर्म के संन्यास में।
मुक्ति पाने के लिए अन कोई साधन है नहीं ॥१३५॥

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृत रूपी कर्मद्वन्द्व के संन्यास काल में अर्थात् प्रत्याख्यान में, संवर में और शुद्ध योग अर्थात् शुद्धोपयोग में एकमात्र वह परमात्मा ही है, क्योंकि ये सब एक निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं। मुक्ति की प्राप्ति के लिए जगत में अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है, नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मेरे चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी मुझे मेरी मुक्ति के लिए शरणभूत नहीं है। सहज सम्यग्दर्शन का विषयभूत जो परमात्मा है, वही एक मेरी मुक्ति का कारण है। उसी के अवलम्बन से शुद्ध ज्ञान, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, शुद्धोपयोगादि में परमात्मा का ही आश्रय है।”

इस छन्द में भी मूल गाथा, उसकी टीका और उद्धृत छन्दों में जो बात कही गई है, उसी को दुहराया गया है। अन्त में कहा गया है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए एक भगवान आत्मा ही एकमात्र आधार है; अन्य कोई पदार्थ नहीं। नहीं है, नहीं है; दो बार लिखकर अपनी दृढ़ता को प्रदर्शित किया है। साथ में जगत को भी चेताया है कि १. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०८

यहाँ-वहाँ भटकने से क्या होगा, एकमात्र निज भगवान आत्मा की शरण में आओ, उसमें अपनापन स्थापित करो; उसे ही निजरूप जानो, उसमें ही जम जावो, रम जावो ॥१३५॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत् ।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्गानि च संस्थितं निश्चलम् ॥१३६॥

(भुजंगप्रयात)

किया नष्ट जिसने है अघतिमिर को,
रहता सदा सत्पुरुष के हृदय में।
कभी विज्ञान को निर्मल अनिर्मल,
निर्मल-अनिर्मल देता दिखाई ॥
जो नष्ट करता है अघ तिमिर को,
वह ज्ञानदीपक भगवान आत्म।
अज्ञानियों के लिए तो गहन है,
पर ज्ञानियों को देता दिखाई ॥१३६॥

जिसने पापतिमिर को नष्ट किया है और जो सत्पुरुषों के हृदयकमल रूपी घर में स्थित है; वह निजज्ञानरूपी दीपक अर्थात् भगवान आत्मा कभी निर्मल दिखाई देता है, कभी अनिर्मल दिखाई देता है और कभी निर्मलानिर्मल दिखाई देता है। इसकारण अज्ञानियों के लिए गहन है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“स्वभाव की तरफ देखने पर निर्मल है, स्वभाव और पर्याय दोनों को साथ में देखने पर निर्मल-अनिर्मल दोनों एक साथ दिखाई पड़ते हैं और पर्याय को देखने पर विकारी दिखाई पड़ता है।

ऐसे तीन प्रकार हुये - द्रव्यदृष्टि से निर्मल, प्रमाण से निर्मल-अनिर्मल दोनों एक साथ और पर्याय में अनिर्मल। इनमें से निर्मलस्वभाव के ऊपर जिसकी दृष्टि हुई, उसी को प्रत्याख्यान होता है; परन्तु अभी साधकदशा होने से पर्याय में मलिनता भी है।

ऐसा आत्मतत्त्व अज्ञानियों के लिए गहन है। जिसे ऐसे आत्मा का भान नहीं है, उसे प्रत्याख्यान नहीं होता।^१

पर्याय में मलिनता और उसीसमय स्वभाव से निर्मल - ऐसा आत्मतत्त्व समझना अज्ञानियों के लिए कठिन है, किन्तु ज्ञानियों के हृदयकमलरूपी गृह में वह निजज्ञानरूपी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१०

दीपक निश्चलपने संस्थित है। ज्ञानियों के हृदय में भगवान आत्मा बसता है। ज्ञान दीपक स्थिर हो, पुण्य-पाप की वृत्ति से कम्पायमान न हो; उसका नाम प्रत्याख्यान है। हाथ जोड़ने से प्रत्याख्यान नहीं होता। देह तो अचेतन है, ज्ञानदीपक देह से भिन्न है। देह से भिन्न केवल चैतन्य का जिसको भान वर्तता है, उस सत्पुरुष को उसमें लीनता होने पर प्रत्याख्यान होता है।^१”

इस कलश में यह बताया गया है कि परमशुद्धनिश्चयनय या परम-भावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह भगवान आत्मा एकाकार अर्थात् अत्यन्त निर्मल ही है और व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनय से यह आत्मा अनेकाकार अर्थात् मलिन ही है। प्रमाण की अपेक्षा एकाकार भी है और अनेकाकार भी है, निर्मल भी है और मलिन भी है।

उक्त नय कथनों से अपरिचित अज्ञानी जनों को अनेकान्तस्वभावी आत्मा का स्वरूप ख्याल में ही नहीं है; पर नयपक्षों से भलीभाँति परिचित आत्मानुभवी ज्ञानी जन उक्त भगवान आत्मा के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हैं और इसकी आराधना में निरंतर संलग्न रहते हैं ॥१३६॥

नियमसार गाथा १०१

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि यह आत्मा संसार और मुक्त - दोनों अवस्थाओं में असहाय ही है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।

एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ ॥१०१॥

(हरिगीत)

अकेला ही मरे एवं जीव जन्मे अकेला।

मरण होता अकेले का मुक्त भी हो अकेला ॥१०१॥

जीव अकेला मरता है और अकेला ही जन्मता है तथा अकेले का मरण होता है और रजरहित होता हुआ अकेला सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इस गाथा में ऐसा कहते हैं कि संसारावस्था में और मुक्ति में जीव निःसहाय है। नित्यमरण में अर्थात् प्रतिसमय होनेवाले आयुर्कर्म के निषेकों के क्षय में और उस भव संबंधी मरण में अन्य किसी की सहायता बिना व्यवहार से अकेला ही मरता है।

सादि-सान्त मूर्तिक विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप नर-नारकादि पर्यायों की उत्पत्ति में आसन्न अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन से जीव अकेला स्वयं ही जन्मता है। सर्व बन्धुजनों के द्वारा सुरक्षा किये जाने पर भी महाबल पराक्रमवाले

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१०

जीव का अकेले ही, अनिच्छित होने पर भी स्वयमेव मरण होता है। अकेला ही परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त स्वात्माश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से निज आत्मा को ध्याकर रजरहित होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करता है।”

इस गाथा का भाव पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ पहले ही मरण की बात करके उसके दो प्रकार कहे :- एक नित्यमरण जो क्षण-क्षण सर्व जीवों के हो रहा है और दूसरा भवसम्बन्धी मरण अर्थात् देह का संयोग छूट जाना - दोनों में जीव अकेला ही है।^१

मरण के बिस्तर पर पड़ा हो, चारों तरफ कुटुम्बीजन खड़े हों; तथापि जीव को मरण से कोई बचा नहीं सकता। शरीर की पर्याय जिस समय छूटनेवाली है, उस समय में आगा-पीछा नहीं हो सकता। चक्रवर्ती के शरीररक्षक सोलह हजार देव सेवा में खड़े हों तो भी आयुष्य पूर्ण होने पर जीव अकेला ही मरता है।

जीव स्वयं ही महाबल-पराक्रमवाला है, यदि पुरुषार्थ करे तो क्षण में केवलज्ञान लेवे - ऐसा पराक्रमी होने पर भी तथा चारों तरफ से बन्धुजनों द्वारा रक्षित होने पर भी और जीव की इच्छा न होने पर भी जीव का अकेले ही स्वयमेव मरण होता है। इन्द्र आ जावे तो भी उसकी सहायता करने में समर्थ नहीं है।

अहो! त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के साथ ही तेरा एकता का सम्बन्ध है, वह कभी छूटनेवाला नहीं है; इसलिए उसकी पहिचान कर। यह शरीर तो तेरी चैतन्यजाति से भिन्न है, उसका संयोग क्षण में छूट जायेगा। चैतन्य को सँभाल, वही सदा शरण है; उसी के आश्रय से चारित्र और मुक्ति होने पर जन्म-मरण रहेगा नहीं, इसलिए पर की उपेक्षा करके स्वस्वभाव के सन्मुख होने का प्रयत्न कर।^२

धर्म प्राप्त करने की जिसकी योग्यता हुई, उसके ऊपर परमगुरुओं की प्रसन्नता हुई। धर्म पानेवाले को ज्ञानी गुरु मिले बिना नहीं रहता।^३

मुनियों को संथारा में दूसरे मुनि सहायता करते हैं - ऐसा निमित्त से कथन होता है; परन्तु वे मुनि स्वयं अपने आत्मबल से समाधि करें तो समाधि होती है, अन्यथा नहीं होती। भले ही अन्य मुनिगण उपस्थित हों, तथापि समाधिमरण करने में तो जीव अकेला ही है। ऐसा सिद्धान्त समझे तो परसहाय की अपेक्षा न रखते हुए, पर से भिन्न अकेले आत्मा को जानकर, उसमें एकाग्र होने पर प्रत्याख्यान हो और जन्म-मरण का दुःख मिट जाय। आत्मा स्वयं ही जन्म-मरण करता है और स्वयं ही निर्वाण पाता है।^४”

(क्रमशः)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१३

२. वही, पृष्ठ ८१५

३. वही, पृष्ठ ८१४-८१५

४. वही, पृष्ठ ८१६

